Research Paper E-ISSN NO : 2455-295X | VOLUME : 4 | ISSUE : 3 | MARCH 2018

उत्तराध्ययन सूत्र: उत्पति और महत्व

डा. देवेन्द्र कुमार [1]

[1] एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, रामलाल आनन्द महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

ABSTRACT

उत्तराध्ययन की उत्पति के विषय में निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता लेकिन इसके अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ किसी एक काल का लिखा हुआ न होकर विभिन्न कालों का लिखा हुआ एक संकलन ग्रन्थ है। इसमें महावीर स्वामी की शिक्षाओं का वर्णन है जो कि जैन साधुओं के आचार-विचारों से सम्बन्ध रखती हैं। 5वीं शताब्दी ई०पू० से लेकर 5वीं शताब्दी तक का बदलता हुआ प्राचीन भारत का इतिहास इस ग्रन्थ के माध्यम से पता लगता है। इसी कारण इसका काफी महत्व बढ़ जाता है। यद्यपि यह जैन साधुओं के आचार-विचारों से सम्बन्धित एक धार्मिक ग्रन्थ हैं, लेकिन तत्कालीन इतिहास भी इसके अध्ययन से परिलक्षित हो जाता है। जैन आगम साहित्य में यह ग्रन्थ अपना एक अलग ही महत्व रखता है।

Keywords: उत्तराध्ययन सूत्र, जैन आगम, आचार-विचार, अंगवाह्य, निर्वाण, वर्ण-व्यवस्था.

उत्तराध्ययन एक धार्मिक जैन ग्रन्थ है जिसमें नवदीक्षित साधुओं के सामान्य आचार-विचारों का वर्णन दिया गया है। 36 अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ की भाषा प्राकृत है। यह किसी एक व्यक्ति के द्वारा किसी एक काल में लिखि हुयी रचना नहीं है बल्कि एक संकलन ग्रन्थ है। भगवान महावीर के उपदेशों को उनके शिष्यों द्वारा जिन सूत्र ग्रन्थों में निबद्ध किया गया था, उन्हें 'आगम' या 'श्रुत' के नाम से जाना जाता है। इसमें महावीर के प्रधान शिष्यों द्वारा रचित ग्रन्थों को 'अंग' तथा उत्तरवर्ती शिष्यों द्वारा रचित ग्रन्थों को 'अंगवाह्य' के नाम से जाना जाता है। यद्यपि उत्तराध्ययन सूत्र की गणना 'अंगवाह्य' सूत्रों में की जाती है लेकिन इसे सभी अंगवाह्य सूत्रों में 'मूलसूत्र' का नाम दिया गया है।[1] जैन आगम साहित्य के लगभग सभी ग्रन्थों में समय-समय पर संशोधन तथा परिवर्तन होते रहे हैं अतः यह ग्रन्थ भी इससे अछूता नहीं रहा होगा। आगमों के संकलन के लिए श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार होने वाले सम्मेलनों से इस बात की पुष्टि हो जाती है।[2] महावीर के निर्वाण के बाद समय-समय पर जैन समिति होती रही हैं जिनमें उनके द्वारा दिये उपदेशों की मौखिक रूप से पुरनावृति की जाती थी। यह सही है कि 5वीं शताब्दी में देवर्धिगणी के नेतृत्व में होने वाली वल्लमी समिति में जैन आगम साहित्य के सभी सूत्रों का संकलन हो गया। अतः महावीर के निर्वाण के बाद के समय से लेकर 5वी शताब्दी तक के काल को इसका काल माना जा सकता है क्योंकि इसमें पाये जाने वाले संशोधन और परिवर्तन लगभग 1000 वर्ष अर्थात् 5वीं शताब्दी ई०पू० से लेकर वल्लमी समिति 500 ई० तक के प्रतीत होते हैं। अतः उत्तराध्ययन किसी एक काल विशेष की रचना न होकर विभिन्न समयों में संकलित किया गया एक संकलन ग्रन्थ है।[3]

उत्तराध्ययन यद्यपि 'अंगवाह्य' गन्थों में आता है लेकिन यह 'अंग' ग्रन्थों से कम महत्वपूर्ण नहीं है। भाषाशास्त्रियों की दृष्टि में उत्तराध्ययन की भाषा अत्यन्त प्राचीन है। भाषा और विषय की प्राचीनता की दृष्टि से समस्त 'अंग' और 'अंगवाह्य' साहित्य में यह प्रमुख 'आचारांग' और सूत्रकृतांग के बाद तीसरे स्थान पर आता है।[4] इसमें कोई संदेह नहीं कि इसमें साहित्यिक गुण भी विधमान् हैं। इसे नीरस तथा शुष्क साहित्य नहीं कहा जा सकता। अन्य आगम ग्रन्थों की तुलना में इसकी भाषा-शैली साहित्यिक, सरल तथा उपदेशात्मक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि उत्तराध्ययन में से सैद्धान्तिक प्रकरणों को अलग कर दिया जाय तो यह विशुद्ध धार्मिक ग्रन्थ हो सकता है। उपदेशात्मक और पुनरूक्तियों के रहते हुए भी इसका साहित्यिक महत्व कम नहीं होता क्योंकि बहुत से अलंकार तथा संवादों के प्रयोग से इसमें रोचकता तथा प्रभावशालीनता आ गई है। विषय को सुबोध बनाने के लिए प्रचलित द्रष्टान्तों की इस ग्रन्थ में कोई कमी नहीं है जैसे - "रात तथा दिन का अतिक्रमण होने पर वृक्ष का पत्ता जिस प्रकार पीला होकर नीचे गिर जाता है उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी नश्वर है। अतः मनुष्य को क्षण-भर का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।"[5] यहाँ उपदेश तो देखने को मिलता ही है लेकिन सरल द्रष्टांत के द्वारा विषय को भी स्पष्ट कर दिया गया है जो पाठक के हदय पर अमिट छाँप छोड़ता है। धार्मिक ग्रन्थ होने से इसमें स्वाभाविक रूप से सरल तथा सुन्दर रूप से प्रयुक्त सुभाषित प्रयोग देखने को मिलते हैं।

उपमा तथा रूपक अलंकारों के प्रयोग से सुभाषितों की झलक स्पष्ट झलकती है।[6] विन्टरनित्स ने तो उत्तराध्ययन की तुलना धम्मपद, सुत्तपिटक, जातक तथा महाभारत आदि ग्रन्थों से की है।[7] इस प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र न केवल अंगवाह्य ग्रन्थों में बल्कि कुछ अंग ग्रन्थों से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

इस सूत्र को हम केवल जैन साधुओं के आचार-विचार तथा शुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं रख सकते क्योंकि इसमें साहित्यिक गुणों की भी कोई कमी नहीं है। यह सही है कि इसके कुछ अध्यायों में दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने के कारण जहां एक ओर नीरसता दिखाई देती है वहीं दूसरी ओर बहुत जगह उपमा तथा रूपक अलंकारों के प्रयोग से सरसता की कोई कमी नहीं है जिससे इसके साहित्यिक गुणों का उत्कर्ष भी हुआ है। उत्तराध्ययन के 36वें अध्याय के अन्तिम पघ की निर्युक्ति में आचार्य भद्रवाहु ने इसका महत्व प्रकट करते हुए इसे जिन-प्रणीत तथा अनन्तगूढ़ शब्दार्थो से युक्त बताया है। निर्युक्तिकार के इस कथन से उत्तराध्ययन के महत्व और प्राचीनता दोनों का बोध हो जाता है। दिगम्बर परम्परा में इसका विशेष उल्लेख होने से तथा इसके टीका साहित्य से इसके महत्व और प्राचीनता के साथ इसकी लोकप्रियता का भी पता चलता है। विभिन्न प्रकार के संवादों, उपमाओं, सुभाषितों आदि के प्रयोग से इसमें रोचकता आ गई है। इसलिए उत्तराध्ययन जैन समाज में हिन्दुओं की भगवदगीता तथा बोद्धों के धम्मपद की तरह महत्वपूर्ण है। उत्तराध्ययन पर सबसे ज्यादा टीका ग्रन्थ लिखे गये हैं जिसमें भद्रवाहु की निर्युक्ति सबसे प्राचीनतम टीका है जो अपना एक अलग स्थान रखती है। यह सभी टीका ग्रन्थों की आधार भी रही है। विषय को स्पष्ट करने के लिए इसमें कहीं-कहीं दृष्टान्त और कथानकों का भी प्रयोग किया गया है।[8]

इस ग्रन्थ को हम एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ इसलिए भी मान सकते है कि यह उस समय के तत्कालीन इतिहास पर भी प्रकाश डालता है। वर्ण व्यवस्था के उदाहरण न केवल महावीर के समय ही देखने को मिलते हैं बल्कि उससे पहले भी वैदिक काल में यह जानकारी मिल जाती है कि समाज आर्य और अनार्य दो भागों में बँटा हुआ था। आर्य गोरे रंग के थे जबकि अनार्य काले रंग के।[9] ब्राहमण न केवल गोरे रंग के थे बल्कि समाज में उन्हें उच्च स्थान भी प्राप्त था। उत्तराध्ययन में वर्णन है कि हरिकेशिवल मुनि को कुरूप देखकर वे उनका निरादर करते थे।[10] रंग तथा कार्य के आधार पर शूद्रों को निम्न श्रेणी में रखा गया था अतः इनका सर्वत्र निरादर ही होता था।[11]

धार्मिक एवं दार्शनिक संप्रदायों के संचालक प्रायः साधु ही होते थे। जन सामान्य की तरह ये भी संयम से हटकर विषयों के प्रति उन्मुख हो रहे थे। अतः इस ग्रन्थ में ब्रहमचर्य को सबसे कठिन वतलाकर अपरिग्रह व्रत से पृथक स्वतंत्र व्रत के रूप में माना गया है। साधु को बार-बार सचेष्ट रहने के लिए कहा गया है। यद्यपि प्राकृत ग्रन्थों में जैन श्रमणों के आचार का ही वर्णन किया गया है परन्तु कुछ ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिनसे अन्य धार्मिक सम्प्रदायों की स्थिति का भी पता चलता है। इस ग्रन्थ में उन्हें मिथ्या दृष्टि तथा पाखंडी शब्दों से सम्बोधित किया गया है।[12]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तराध्ययन ग्रन्थ केवल जैन साधुओं के आचार-विचारों तक ही सीमिति नहीं रहता बल्कि इसमें तत्कालीन संस्कृति के बहुत से उदाहरण भी देखने के लिए मिल जाते है।

REFERENCES

1. जगदीश चन्द्रजैन, जैन साहित्य का व्रहद इतिहास, भाग-2, पृ. 143-144
2. जगदीश चन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ. 36-39
3. विन्टरनित्स, हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लिश लिटरेचर, पृ. 466
4. वही, पृ. 430-31
5. उत्तराध्ययन सूत्र, 10.1
6. वही, 1.2-5,3.1, 4.3-6, 5.9-10, 6.6-16
7. विन्टरानटिस, हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लिश लिटरेचर, पृ. 467-70
8. भद्रबाहु, उत्तराध्ययन-निर्युक्ति 139-140
9. जगदीश चन्द्र जैन, जैन आगय साहित्य में भारतीय समाज, पृ.221
10. उत्तराध्ययन सूत्र, 12.6-7
11. वही, 13.19
12. वही, 10.18, 23.19, 18.26-27